(७) शैव-दर्शनम्

पाशः पशुः पतिरिति त्रितयेन सर्वं
व्याप्तं स एव भगवाञ्छिव ईश्वरोऽत्र ।
कर्माद्यपेक्षत इतीह विशेषणेन
युक्तं तमेव पतिमीश्वररूपमीडे ॥—ऋषिः ।

(१. शैवागमसिद्धान्त के तीन पदार्थ)

तमिमं 'परमेश्वरः कर्मादिनिरपेक्षः कारणमिति' पक्षं वैषम्य-नैर्घृण्य-दोषदूषितत्वात् प्रतिक्षिपन्तः, केचन माहेश्वराः शैवागमसिद्धान्ततत्त्वं यथावदीक्षमाणाः, 'कर्मादिसापेक्षः परमेश्वरः कारणमिति' पक्षं कक्षीकुर्वाणाः, पक्षान्तरमुपक्षिपन्ति—पतिपशुपाशभेदात् त्रयः पदार्था इति । तदुक्तम् तन्त्रतत्त्वज्ञैः—

१. त्रिपदार्थं चतुष्पादं महातन्त्रं जगद्गुरुः ।
सूत्रेणैकेन संक्षिप्य प्राह विस्तरतः पुनः ॥ इति ।

कुछ माहेश्वर (महेश्वर-सम्प्रदाय के दार्शनिक) इस उपर्युक्त (पाशुपत) पक्ष को स्वीकार नहीं करते कि 'कर्मादि से पृथक् रहकर परमेश्वर संसार का कारण है' । यह पक्ष इसलिए तिरस्करणीय है कि इसे स्वीकार करने में दो दोष आते हैं—वैषम्य (अर्थात् जीवों के सुख-दुःख के सम्बन्ध में ईश्वर की दृष्टि असमान या पक्षपाती रहेगी, कुछ जीव अपने-आप दुःख ही दुःख झेलेंगे, दूसरे सुखोपभोग करेंगे—ईश्वर कारण होने पर भी देखता रहेगा, लोग उसपर पक्षपात का आरोप करेंगे ही) तथा निर्दयता (ईश्वर निर्दयतापूर्वक संसार का संहार करेंगे क्योंकि प्राणियों के कर्म से तो ईश्वर को कुछ लेना देना नहीं है) । [यदि ईश्वर कर्मादिसापेक्ष रहें तो कोई दोष ही न रहे—सुख-दुःख का उपभोग अपने आप नहीं होगा, प्राणियों के कर्मों का भी फलदान के समय विचार होगा, कर्म भी असाधारण कारण रहेंगे; अतः न तो पक्षपात की भावना रहेगी क्योंकि कर्मानुसार फल मिलेगा, और न निर्दयता का आरोप ईश्वर पर लगेगा क्योंकि न्याय होने पर निर्दय और सदय कैसा ?] ये (माहेश्वर) शैवागम (सभी शैव सम्प्रदायों का मूलग्रन्थ) के सिद्धान्तों के रहस्य को यथार्थ रूप

से देखते हैं वे यह पक्ष मानते हैं कि कर्मादि से संबद्ध (सापेक्ष) परमेश्वर संसार का कारण है, इस प्रकार दूसरे पक्षों (मतों) का प्रस्ताव करते हैं—पति (ईश्वर), पशु (जीव), पाश (बन्धन) के भेद से पदार्थ तीन हैं। तन्त्र का तत्त्व जानने वाले लोगों ने कहा भी है—'संसार के गुरु ने एक सूत्र में ही तीन पदार्थों और चार पादों से निर्मित महातंत्र का संक्षेप किया, फिर उसका निरूपण विस्तार से किया।'

विशेष—शैवदर्शन के मूल ग्रन्थ हैं शैवागम जिनमें शिवसंहिता, अहिर्बुध्न्य-संहिता आदि प्रसिद्ध हैं। इसके अनंतर आगम और यामल ग्रन्थ हैं जो सभी संस्कृत में हैं। इनके अतिरिक्त शैवमत का जो गढ़ तमिळ देश में है, वहाँ की परंपरा में तमिळ भाषा में शैव ग्रंथ प्राप्त हैं। ८४ संतों की बात वहाँ मिलती है जिनमें चार आचार्यों—अप्पार, ज्ञानसंबंध, सुन्दरमूर्ति तथा माणिक्कवाचक (समय ७वीं-८वीं श०)—का नाम प्रसिद्ध है। इन सबों ने इस मत का प्रवर्तन किया। इस प्रकार उत्तरी भारत में जहाँ संस्कृत के आगम-ग्रन्थ शैवमत की मूल भित्ति हैं, वहाँ भारत में उक्त आचार्यों की तमिळ रचनायें ही शैवमत का आधार हैं। इन्हें दक्षिण में लोग दक्षिणी आगमों के समान ही अत्यंत अभ्यर्हित मानते हैं। वास्तव में शैवमत अभी दक्षिण में ही जीवित है। इन ग्रंथों को दक्षिण में 'शैवसिद्धान्त' या 'शैवागम' भी कहते हैं। वहाँ प्रसिद्धि है कि शिव ने अपने पाँच मुखों से २८ तन्त्रों का आविर्भाव किया। उनकी संख्या निम्नलिखित है—

(१) सद्योजात मुख से—कामिक, योगज, चिन्त्य, करण, अजित (५)।
(२) वामदेव मुख से—दीप्त, सूक्ष्म, सहस्र, अंशुमान् , सुप्रभेद (५)।
(३) अघोर मुख से—विजय, निश्वास, स्वायम्भुव, अनल, वीर (५)।
(४) तत्पुरुष मुख से—रौरव, मुकुट, विमल, चन्द्रज्ञान, बिम्ब (५)।
(५) ईशान मुख से—प्रोद्गीत, ललित, सिद्ध, संतान, सर्वोत्तर, परमेश्वर, किरण और वातुल (८)।

अभिनवगुप्त द्वारा रचित तन्त्रालोक की टीका करते समय जयरथ ने इन तंत्रों का उल्लेख किया है। इन तन्त्रों पर भी अनेक टीकायें हैं जिनसे शैवागम-साहित्य की विपुलता का अनुमान लग सकता है। इसके अलावे भी सद्योज्योति (८०० ई०) के द्वारा रचित नरेश्वरपरीक्षा, रौरवागमवृत्ति, तत्त्वसंग्रह, तत्त्व-त्रय, भोगकारिका, मोक्षकारिका और परमोक्षनिरासकारिका, **हरदत्त शिवाचार्य** (१०५० ई०) रचित श्रुतिसूक्तिमाला और चतुर्वेदतात्पर्यसंग्रह, **रामकण्ठ** (११०० ई०) लिखित मातङ्गवृत्ति, नादकारिका और सद्योज्योति के ग्रन्थों की टीकायें, **श्रीकण्ठ** (११२५ ई०) का रत्नत्रय, **भोजराज** (वही समय)

की तत्त्वप्रकाशिका और रामकण्ठ के शिष्य अघोरशिवाचार्य रचित तत्त्व-प्रकाशिका और नादकारिका की वृत्तियाँ—ये ग्रन्थ भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। सद्योज्योति के अन्तिम पाँच ग्रन्थ, भोजराज की तत्त्वप्रकाशिका, रामकण्ठ की नादकारिका और श्रीकण्ठ का रत्नत्रय—ये आठ ग्रन्थ **अष्टप्रकरण** कहलाते हैं। ये सिद्धान्तग्रंथ शैवागमसंघ से नागराक्षरों में प्रकाशित हो रहे हैं। विशेष विवरण देखें—पं० बलदेव उपाध्याय, 'भारतीय दर्शन' पृ० ५५०-५२।

अस्यार्थ :—उक्तास्त्रयः पदार्था यस्मिन्सन्ति तत्त्रिपदार्थं, विद्याक्रियायोगचर्याख्याश्चत्वारः पादा यस्मिंस्तच्चतुश्चरणं महातन्त्रमिति। तत्र पशूनामस्वतन्त्रत्वात्पाशानामचैतन्यात् तद्विलक्षणस्य पत्युः प्रथममुद्देशः। चेतनत्वसाधर्म्यात् पशूनां तदानन्तर्यम्। अवशिष्टानां पाशानामन्ते विनिवेश इति क्रम-नियमः।

इसका यह अर्थ है कि उपर्युक्त तीन पदार्थ (पति, पशु, पाश) जिसमें हैं वह (महातंत्र) 'त्रिपदार्थ' कहलाता है, विद्या, क्रिया, योग, और चर्या नाम के चार पाद (चरण) भी जिसमें हैं वह महातंत्र 'चतुश्चरण' है।

तीन पदार्थों में पूर्वापरक्रम—इनमें पशु तो स्वतंत्र ही नहीं हैं, पाश (संसार) अचेतन ही है, इसलिए इनसे विलक्षण (dissimilar) रहने वाले (अर्थात् स्वतन्त्र और चेतन) **पति** का पहले नाम लिया गया है। [पति से] चैतन्य धर्म समान रूप में होने के कारण उसके बाद **पशुओं** (जीवों) का नाम लेते हैं। अब बाकी बचे हुए **पाश** (जड़ पदार्थों) का नाम अंत में लेते हैं, यही इनके पूर्वापर क्रम का नियम है।

दीक्षायाः परमपुरुषार्थहेतुत्वात् तस्याश्च पशुपाशेश्वरस्वरूप-निर्णयोपायभूतेन मन्त्रमन्त्रेश्वरादिमाहात्म्यनिश्चायकेन ज्ञानेन विना निष्पादयितुमशक्यत्वात् तदवबोधकस्य विद्यापादस्य प्राथ-म्यम्। अनेकविधसाङ्गदीक्षाविधिप्रदर्शकस्य क्रियापादस्य तदा-नन्तर्यम्। योगेन विना नाभिमतप्राप्तिरिति साङ्गयोगज्ञापकस्य योगपादस्य तदुत्तरत्वम्। विहिताचरणनिषिद्धवर्जनरूपां चर्यां विना योगोऽपि न निर्वहतीति तत्प्रतिपादकस्य चर्यापादस्य चरमत्वमिति विवेकः।

चार पादों का तारतम्य—दीक्षा (गुरु से नियमपूर्वक मंत्र का उपदेश लेना[1]) से ही परम पुरुषार्थ (मोक्ष) की प्राप्ति होती है, किन्तु दीक्षा का निष्पादन (संपादन) उस ज्ञान के बिना संभव नहीं है जिस ज्ञान के द्वारा पशु, पाश और ईश्वर के स्वरूप का निर्णय होता है (= पदार्थों के निर्णय करने का जो उपाय है), तथा जो ज्ञान मन्त्र, मन्त्रेश्वर आदि की महिमाओं का निर्णय कराता है। [पशुओं की विशिष्ट सामर्थ्य के प्रतिबन्धक अनेक पाश हैं, भक्तों के अधिकार के अनुसार ईश्वर इन पाशों को मिटाता है। इन सबों को जानने पर ही पति, पशु और पाश पृथक् रूप में समझ में आ सकता है। इसीलिए सबसे पहले दीक्षा का उपपादक (साधक) ज्ञान या **विद्या** अपेक्षित है।]

अंगों के साथ अनेक प्रकार की दीक्षाओं की विधियों का प्रदर्शन करने वाले **क्रियापाद** का वर्णन उसके बाद हुआ है। उसके बाद **योगपाद** आता है जिसमें सांग योग का वर्णन है क्योंकि योग के बिना अभिमत वस्तु की प्राप्ति नहीं होती। चर्या वह है जिसमें विहित कर्म का आचरण तथा निषिद्ध कर्म का वर्जन (त्याग) हो, इसके बिना योग परिपक्व नहीं होता, अतः योग के प्रतिपादक **चर्यापाद** को सबसे अन्त में रखा गया है। यही विचार किया जाता है। [सर्वप्रथम ज्ञान की आवश्यकता होने से विद्यापाद, फिर दीक्षाविधि के रूप में क्रियापाद, तब दीक्षा का ग्रहण करने के अधिकार की सिद्धि के लिए जप-ध्यानादि से युक्त योगपाद और अन्त में योग की सहायता करने वाली चर्याओं का पाद। योग औषधि है तथा चर्या पथ्य। दोनों की परस्पर अपेक्षा है। इसी क्रम से शैवागमों में चार पादों का क्रम रखा गया है।[2] अब क्रमशः तीन पदार्थों का निरूपण आरम्भ होता है।]

(२. 'पति' का निरूपण)

तत्र पतिपदार्थः शिवोऽभिमतः। मुक्तात्मनां विद्येश्वरादीनां च यद्यपि शिवत्वमस्ति, तथापि परमेश्वरपारतन्त्र्यात् स्वातन्त्र्यं नास्ति। ततश्च तनुकरणभुवनादीनां भावानां संनिवेशविशिष्टत्वेन

---

१ दिव्यज्ञानं बलो दद्यात्कुर्यात्पापस्य संक्षयम्। तस्माद्दीक्षेति सा प्रोक्ता मुनिभिस्तत्त्ववेदिभिः। मन्त्रों का ग्रहण दीक्षा-विधि से ही होता है—

ग्रन्थे दृष्ट्वा तु मन्त्रं वै यो गृह्णाति नराधमः। मन्वन्तरसहस्रेषु निष्कृतिर्नैव जायते।

२ इन्हें तमिल में सरियेइ, किरिकेइ, योकम् और ज्ञानम् कहते हैं।

कार्यत्वमवगम्यते । तेन च कार्यत्वेनैषां बुद्धिमत्पूर्वकत्वमनुमीयत इत्यनुमानवशात्परमेश्वरप्रसिद्धिरुपपद्यते ।

इनमें 'पति' पदार्थ से शिव का अर्थ समझा जाता है। मुक्त आत्मावाले (तथा) विद्येश्वर आदि यद्यपि शिव हैं (उनमें शिवत्व गुण है), तथापि परमेश्वर के पराधीन होने के कारण वे स्वतन्त्र नहीं हैं। [यह स्मरणीय है कि नकुलीश-पाशुपत दर्शन में मुक्तों को शिवत्व-प्राप्ति के साथ स्वतन्त्रता भी मिल जाती है, परतन्त्रता नहीं रहती, किन्तु शैवदर्शन में उनकी परतन्त्रता मानी जाती है। 'मुक्त आत्मा वाले' शब्द विद्येश्वरादि के विशेषण भी हो सकते हैं और स्वतन्त्र शब्द भी। विद्येश्वरादि को परा (highest) मुक्ति नहीं मिलती। हाँ, अपरा मुक्ति के अधिकारी तो वे अवश्य हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जिस तरह संसार के उत्पादन में परमेश्वर को प्राणियों के कर्म की अपेक्षा रहती है या नहीं, इस विषय में मतभेद है—उसी तरह मुक्तों की स्वतन्त्रता के विषय में भी मतभेद है। अब परमेश्वर की सत्ता का निरूपण होता है।]

इसीसे शरीर, इन्द्रियों और संसार आदि पदार्थों को कार्य के रूप में हम समझते हैं क्योंकि इन पदार्थों में अवयव-रचना (संनिवेश symmetry) की विशिष्टतायें हैं। [मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, पर्वत आदि पदार्थों के अवयवों की रचना में एक नियमितता देखते हैं, इससे मालूम होता है कि ये कार्य हैं। किसी ने इन्हें उत्पन्न किया है।] चूँकि ये कार्य हैं इसलिए किसी बुद्धियुक्त कर्ता ने इनका निर्माण किया है, ऐसा अनुमान होता है—इसी अनुमान के बल से परमेश्वर की प्रसिद्धि की बात सिद्ध हो जाती है। [कर्त्ता वह है जो इच्छा और प्रयत्न का आधार हो—'चिकीर्षाप्रयत्नाधारत्वं कर्तृत्वम्'। कार्य के पूर्व उसकी सत्ता अवश्य होगी और चूँकि कर्ता इच्छा से युक्त होता है अतः इसमें बुद्धि का होना अनिवार्य है। संसार रूपी विराट् कार्य के लिए तदनुरूप कर्ता होना चाहिए जो, और कोई नहीं, परमेश्वर ही है। नैयायिकों के द्वारा भी ईश्वर की सिद्धि के लिए यही तर्क प्रस्तुत किया जाता है। देखिए—मंगलाचरणश्लोक—१ (सर्वदर्शनसंग्रह)।]

(२ क. ईश्वर को कर्ता मानने में आपत्ति और समाधान)

ननु देहस्यैव तावत्कार्यत्वमसिद्धम् । नहि क्वचित्केनचित् कदाचित् देहः क्रियमाणो दृष्टचरः । सत्यम्, तथापि न केनचित् क्रियमाणत्वं देहस्य दृष्टमिति कर्तृदर्शनापह्नवो न युज्यते । तस्यानुमेयत्वेनाप्युपपत्तेः ।

तथा हि—देहादिकं कार्यं भवितुमर्हति संनिवेशविशिष्टत्वात् विनश्वरत्वाद्वा घटादिवत्। तेन च कार्यत्वेन बुद्धिमत्पूर्वकत्वमनुमातुं सुकरमेव।

[पूर्वपक्षियों का तर्क है कि] 'देह कार्य है' यही वाक्य पहले असिद्ध है। कारण यह है कि कहीं पर, किसी ने, कभी भी देह को उत्पन्न होते हुए नहीं देखा। हम (शैव) इसे मानते हैं, फिर भी 'किसी ने देह को उत्पन्न होते हुए नहीं देखा' इस आधार पर कर्ता की सत्ता को अस्वीकार करना ठीक नहीं है। किसी का कर्ता होना अनुमान से भी तो सिद्ध हो सकता है [भले ही प्रत्यक्ष प्रमाण न मिले]।

उदाहरण के लिए देखा जाये—देह आदि कार्य हो सकते हैं क्योंकि अवयव-रचना से ये विशिष्ट होते हैं या नश्वर हैं जैसे घटादि (कार्य) हैं। जब इन्हें कार्य मान लेंगे तो फिर किसी बुद्धिमान् पुरुष की रचना मानना और आसान ही है।

विमतं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवत्। यदुक्तसाधनं तदुक्तसाध्यं यथार्थादि। न यदेवं न तदेवं यथात्मादि। परमेश्वरानुमानप्रामाण्यसाधनमन्यत्राकारीत्युपरम्यते।

२. अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥

इति न्यायेन प्राणिकृतकर्मापेक्षया परमेश्वरस्य कर्तृत्वोपपत्तेः।

विवादग्रस्त वस्तु (= तनु, भुवनादि पदार्थ, क्योंकि इन्हीं के विषय में संदेह है कि ये सकर्तृक हैं या अकर्तृक) सकर्तृक है, क्योंकि कार्य यह है जिस प्रकार घट हुआ करता है। जो पदार्थ उक्त साधन वाले हैं (कार्य हैं), वे उक्त साध्य (सकर्तृक) वाले हैं जैसे अर्थ (घट, पट) आदि। जो इस प्रकार का नहीं (जो सकर्तृक नहीं), वह वैसा नहीं (वह कार्य नहीं) जैसे आत्मा आदि। [यहाँ पर सायणमाधव की शैली संक्षेपीकरण की चरम सीमा पर पहुँची हुई है। ऊपर विवाद है कि पदार्थों का कर्ता कोई है कि नहीं। अब अनुमान होता है—

सारे पदार्थ सकर्तृक (साध्य) हैं,
क्योंकि वे पदार्थ कार्य हैं,
जिस तरह घट होता है।

अनुमान के अनन्तर अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा व्याप्ति की स्थापना की जाती है। (**अन्वय—**) जो कुछ भी कार्य (उक्तसाधनं) है वह सकर्तृक होता

है (उक्तसाध्यम्) जैसे घट, पट आदि। (व्यतिरेक—) जो वस्तु कार्य नहीं वह सकर्तृक भी नहीं है जैसे आत्मा आदि।]

परमेश्वर के विषय में (सिद्धि के लिए) जो अनुमान दिया गया है उसकी प्रामाणिकता की सिद्धि दूसरे स्थान पर दी गई है, इसलिए यहाँ पर छोड़ देते हैं। [यदि शरीर, इन्द्रिय, भुवन आदि पदार्थों का कोई भी कर्त्ता नहीं होता तो अपनी इच्छा से ही सबों की उत्पत्ति माननी पड़ती। वैसी दशा में जीव को क्या पड़ा था कि दुःख के साधन ग्रहण करता ? वह केवल सुख के साधन ही खोजता किन्तु जीव का इसमें वश चले तब तो ? अतः सुख-दुःख का कोई दूसरा नियन्ता जरूर होगा। प्राणियों के द्वारा किये गये कर्मों की अपेक्षा रखते हुए ही ईश्वर संसार का कर्ता है।]

'जीव अज्ञ है, वह अपने सुख-दुःख को नियंत्रित करने में असमर्थ है, ईश्वर से प्रेरित होकर ही या तो वह स्वर्ग जाता है या नरक (श्वभ्र)।'[1] इस न्याय से प्राणियों के कर्मों की अपेक्षा रखते हुए ही ईश्वर का कर्ता होना सिद्ध होता है।

न च स्वातन्त्र्यविहतिरिति वाच्यम्। करणापेक्षया कर्तुः स्वातन्त्र्यविहतेरनुपलम्भात्। कोषाध्यक्षापेक्षस्य राज्ञः प्रसादादिना दानवत्। यथोक्तं सिद्धगुरुभिः—

३. स्वतन्त्रस्याप्रयोज्यत्वं करणादिप्रयोक्तृता।
कर्तुः स्वातन्त्र्यमेतद्धि न कर्माद्यनपेक्षता॥ इति॥

तथा च तत्तत्कर्माशयवशाद् भोग-तत्साधन-तदुपादानादि-विशेषज्ञः कर्तानुमानादिसिद्ध इति सिद्धम्। तदिदमुक्तं तत्रभवद्भिर्बृहस्पतिभिः—

४. इह भोग्यभोगसाधनतदुपादानादि यो विजानाति।
तमृते भवेन्न हीदं पुंस्कर्माशयविपाकज्ञम्॥ इति।

ऐसा नहीं समझें कि [कर्मों की अपेक्षा रखने से ईश्वर की] स्वतंत्रता में किसी प्रकार की क्षति पहुँचेगी। क्योंकि आज तक ऐसा कभी नहीं पाया गया है कि करणों (साधनों) की अपेक्षा रखने से कर्ता की स्वतंत्रता में बाधा पहुँची

१ तुल० दुर्योधन की यह प्रसिद्ध उक्ति—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥

हो। राजा यद्यपि कोषाध्यक्ष की अपेक्षा रखते हैं किन्तु अपने ही प्रसाद (कृपा) से दान करते हैं। (कोषाध्यक्ष से दान दिलवाने का अर्थ यह नहीं है कि राजा से बड़ा कोषाध्यक्ष ही है और राजा को स्वतंत्रता नहीं)। जैसा कि सिद्ध गुरु ने कहा है—'किसी स्वतंत्र व्यक्ति में ही ये विशेषतायें होती हैं कि दूसरा कोई उसे प्रयोजित न करे (काम में न लगा दे वे अप्रयोज्य हों) तथा स्वयं जो करण (साधन) आदि का प्रयोग करे। इसे ही कर्त्ता की स्वतंत्रता कहते हैं, यह नहीं कि कर्मादि की अपेक्षा न रखने वाला ही स्वतंत्र है।' [यदि ईश्वर स्वतंत्र नहीं होता तो उसके प्रयोजक या उस पर आदेश चलानेवाले कुछ प्रयोजक होते। प्रयोजक दो ही काम करता है—या तो अपने अभीष्ट कार्य का विनाश करता है या अनिष्ट कार्य कराता है। यही परतंत्रता है। लेकिन प्रयोजक कोई चेतन हो तभी परतंत्रता है, इसलिए कर्मों के द्वारा ईश्वर यदि प्रयोजित हो तो भी कोई हानि नहीं। कर्मों की अपेक्षा न रखना स्वतंत्रता नहीं है। स्वतंत्र दूसरों का उपयोग तो करता ही है, इसलिए ईश्वर भी कर्त्ता होकर करण, सम्प्रदानादि कारक-चक्र का खूब उपयोग करता है।]

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि भिन्न-भिन्न [पाप-पुण्य] कर्मों के समूह या आशय के फलस्वरूप मिलने वाले भोग, भोग्य वस्तुएँ (भोग-साधन) और उनके उपादान आदि को विशेष रूप से जानने वाला कर्ता (ईश्वर) अनुमान आदि (=श्रुति-प्रमाण से भी) से सिद्ध किया जाता है। पूज्यपाद बृहस्पति ने इसे इस तरह निरूपित किया है—'इस संसार में भोग्य, भोग के साधन, उनके उपादान (प्राप्ति या कारण) आदि को जो विशेषरूप से जानता है उस (ईश्वर) के अतिरिक्त पुरुषों के कर्म-समूह के परिणाम का ज्ञाता यहाँ कोई नहीं है।'

विशेष—'आशय' पाप और पुण्य-रूपी कर्मों के संघात को कहते हैं जो फल मिलने के समय तक अंतःकरण में विराजमान रहता है—आशेरते फल-पाकपर्यन्तमन्तःकरण इत्याशयाः। 'भोग' का अर्थ सुख और दुःख से मिलना; भोग के साधन = सुख दुःख मिलने की वस्तुएँ—रोग, शोक, द्रव्यप्राप्ति आदि। उपादान = मिलकर फल देने वाला कारण (Material cause)।

अन्यत्रापि—

५. विवादाध्यासितं सर्वं बुद्धिमत्कर्तृपूर्वकम्।
कार्यत्वादावयोः सिद्धं कार्यं कुम्भादिकं यथा॥ इति।

सर्वकर्तृत्वादेवास्य सर्वज्ञत्वं सिद्धम्। अज्ञस्य करणासंभवात्।

उक्तं च श्रीमन्मृगेन्द्रैः—

६. सर्वज्ञः सर्वकर्तृत्वात्साधनाङ्गफलैः सह ।
यो यज्जानाति कुरुते स तदेवेति सुस्थितम् ॥ इति ।

दूसरी जगह भी कहा है—'संपूर्ण संसार (पक्ष) जो विवाद का विषय है, वह किसी बुद्धिमान् कर्ता के द्वारा निर्मित है क्योंकि यह (संसार) कार्य है। हम दोनों (पूर्वपक्षी, सिद्धान्ती) के मत से यह कार्य के रूप में सिद्ध है ही, जिस तरह घट आदि को [हम मान कर किसी कर्ता के द्वारा निर्मित मानते हैं।]'

चूँकि इस ईश्वर ने सभी वस्तुओं का निर्माण किया है इसीलिए उसकी सर्वज्ञता सिद्ध हो गई। अज्ञ व्यक्ति किसी को उत्पन्न नहीं कर सकता। [जब तक सर्वज्ञता नहीं होगी, सभी वस्तुओं का निर्माण नहीं होगा। जो जिसे जानता है उसीका निर्माण कर सकता है।] श्रीमान् मृगेन्द्र ने कहा है—'सभी वस्तुओं की उत्पत्ति करने के कारण वह सर्वज्ञ है, वह वस्तुओं को साधन, अंग और उनके फल के साथ [जानता और बनाता है। दर्श-पूर्णमास यज्ञ का संपादन करने वाला व्यक्ति उसके साधनों (समिधा, पुरोडाशादि), अंगों (प्रयाज आदि) तथा फल (स्वर्गादि) को भी जानता है।] जो व्यक्ति जिस काम को जानता है, वही काम वह करता है—यह तो अच्छी तरह निश्चित है।'

(३. ईश्वर का शरीर-धारण)

अस्तु तर्हि स्वतन्त्रः ईश्वरः कर्ता। स तु नाशरीरः। घटादिकार्यस्य शरीरवता कुलालादिना क्रियमाणत्वदर्शनात्। शरीरवत्त्वे चास्मदादिवदीश्वरः। क्लेशयुक्तोऽसर्वज्ञः परिमितशक्ति प्राप्नुयादिति चेत्—मैवं मंस्थाः। अशरीरस्याप्यात्मनः स्वशरीरस्पन्दादौ कर्तृत्वदर्शनात्।

[पूर्वपक्षी कहते हैं—] अच्छा मान लिया कि ईश्वर स्वतंत्र कर्ता है किन्तु यह भी तो मानना होगा कि वह अशरीर नहीं है (शरीरधारी है)। घटादि कार्यों [के जो दृष्टान्त आप देते हैं] वे तो शरीर धारण करने वाले कुम्भकारादि के द्वारा निर्मित होते हैं। शरीरधारी ईश्वर मानने का कुपरिणाम यह होगा कि वह भी हम लोगों की तरह माना जायगा। [हमलोगों के समान] क्लेशों से युक्त, असर्वज्ञ होकर केवल एक निश्चित सीमा के ही भीतर शक्ति प्राप्त करेगा। [शैव दर्शनकारों का उत्तर है—] ऐसी बात नहीं समझें। आत्मा तो शरीर धारण नहीं करती, किन्तु [जिस शरीर के भीतर वास करती है उस] अपने शरीर का स्पंदन, संचालन आदि तो वही करती है, [इसलिए 'शरीरधारी

ही कर्ता होंगे' इस प्रकार की व्याप्ति आप नहीं सिद्ध कर सकते। शरीर की सहायता के बिना भी कोई कर्ता हो सकता है। ईश्वर भी शरीरहीन होकर कर्ता हो सकता है।]

अभ्युपगम्यापि ब्रूमहे। शरीरवत्त्वेऽपि भगवतो न प्रागुक्त-दोषानुषङ्गः। परमेश्वरस्य हि मलकर्मादिपाशजालासंभवेन प्राकृतं शरीरं न भवति, किंतु शाक्तम्। शक्तिरूपैरीशानादिभिः पञ्चभिः मन्त्रैः मस्तकादिकल्पनायाम्—ईशानमस्तकः, तत्पुरुषवक्त्रः, अघोरहृदयः, वामदेवगुह्यः, सद्योजातपादः ईश्वरः—इति प्रसिद्ध्या यथाक्रमानुग्रहतिरोभावादानलक्षणस्थितिलक्षणोद्भवलक्षणकृत्य-पञ्चककारणं, स्वेच्छानिर्मितं तच्छरीरं न चास्मच्छरीरसदृशम्। तदुक्तं श्रीमन्मृगेन्द्रै :—

मलाद्यसंभवाच्छाक्तं वपुर्नैतादृशं प्रभोः ॥ इति।

अब इसे स्वीकार करें (ईश्वर को शरीर मानें) तो भी कहेंगे कि शरीरधारी मानने पर भी भगवान् में पूर्वोक्त दोषों के लगने का प्रसंग नहीं है। परमेश्वर में मल, कर्म आदि पाशजालों की संभावना ही नहीं, अतः उसका शरीर प्राकृत (प्रकृति से उत्पन्न, हम लोगों की तरह का) नहीं है उसका शरीर शक्ति से बना है। [कुछ पाश हैं जैसे—मल, प्राणियों के कर्म, माया की आवरण-शक्ति। इन सबों का वर्णन इसी दर्शन में प्रायः अन्त में होगा। इन पाशों का क्षेत्र प्रकृति है। जिनके शरीर प्राकृत होते हैं उन्हीं में ये पाश रहते हैं। परमेश्वर अनादि काल से मुक्त है। यदि ऐसा न मानें तो अनवस्था-दोष उत्पन्न होगा। ईश्वर के मुक्त न होने पर कोई उसे मुक्ति देने वाला तो होगा, फिर उसे भी कोई मुक्त करेगा इत्यादि। इसलिए कोई न कोई तो अनादि मुक्त होगा ही, जो ईश्वर ही है। अनादि मुक्त मानने से पाश-मुक्त भी वह होगा। इसलिए ईश्वर का शरीर शक्ति (मातृका, वर्णमाला) से निर्मित मानते हैं।]

शक्ति के रूप में ईशान आदि पाँच मंत्र हैं जिनके द्वारा परमेश्वर के मस्तक आदि की कल्पना की जाती है। वे इस प्रकार हैं—ईश्वर का मस्तक 'ईशानः०' (महानारायणोपनिषद्, २१) मंत्र से बना है, मुख 'तत्पुरुषाय०' (म०, २०) से, हृदय 'अघोरेभ्यो०' (म०, १९) से, गुह्यस्थान 'वामदेवाय०' (म०, १८) से तथा पाद 'सद्योजातं०' (म०, १७) मन्त्र से बना है। इस प्रकार की प्रसिद्धि होने से, उसका शरीर स्वेच्छा से ही निर्मित हुआ है, वह क्रमशः अनुग्रह (दया)

तिरोभाव (अन्तर्धान concealment), आदान-लक्षण (संहार), स्थिति-लक्षण (पालन) और उद्भवलक्षण (सृष्टि)—इन पाँच प्रकार के कार्यों का कारण है, इसलिए हम लोगों के शरीर की तरह नहीं है। श्रीमन्मृगेन्द्र ने कहा है—'प्रभु के शरीर में मल आदि होना असंभव है, इसलिए [हम लोगों के शरीर की तरह] उनका शरीर नहीं है, किन्तु उनका शरीर शक्तिनिष्पन्न है।

विशेष—तन्त्रशास्त्र में मन्त्रों को ही शक्ति माना गया है। मन्त्र का एक-एक अक्षर अनुभव शक्ति का प्रतीक है—शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया शिवात्मिका। मातृकाओं या वर्णमालाओं में ही सारे मन्त्रों की सत्ता होती है। कालिकापुराण में कहते हैं—

ये ये मन्त्रा देवतानामृषीणामथ रक्षसाम्।
ते मन्त्रा मातृकायन्त्रे नित्यमेव प्रतिष्ठिताः॥

ईश्वर का शरीर मंत्रमय होने से उसके अवयव भी मंत्रों से ही बनते हैं।

अन्यत्रापि—

७. तद्वपुः पञ्चभिर्मन्त्रैः पञ्चकृत्योपयोगिभिः।
ईशतत्पुरुषाघोरवामाद्यैर्मस्तकादिमत्॥ इति॥

ननु पञ्चवक्त्रस्त्रिपञ्चदृगित्यादिनागमेषु परमेश्वरस्य मुख्यत एव शरीरेन्द्रियादियोगः श्रूयत इति चेत्—सत्यम्, निराकारे ध्यान-पूजाद्यसंभवेन भक्तानुग्रहकारणाय तत्तदाकारग्रहणाविरोधात्।

दूसरी जगह भी कहा है—'उसका शरीर पाँच कृत्यों (अनुग्रह, तिरोभाव, संहार, पालन, सृष्टि) के उपयोग में आने वाले पाँच मंत्रों से बना है जो ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वाम आदि के द्वारा मस्तकादि अवयवों का है।' [इनमें ईशान-मंत्र अनुग्रह के लिए, तत्पुरुष-मंत्र तिरोभाव के लिए अघोर-मंत्र संहार के लिए, वामदेव-मंत्र पालन के लिए तथा सद्योजात-मंत्र सृष्टि के लिए उपयोगी है।]

अब कोई प्रश्न कर सकता है कि आपके आगमों में ही तो 'पाँच मुँहों से युक्त' 'पंद्रह आँखों से युक्त' आदि विशेषणों से परमेश्वर के मुख्यतः शरीर, इन्द्रिय आदि का संबंध सुनते हैं [फिर उसे सशरीर मानने में क्या आपत्ति है ?] ठीक है, निराकार ईश्वर का ध्यान करना, पूजा करना आदि असंभव है इसलिए भक्तों पर अनुग्रह करने वाले परमेश्वर के लिए उन आकारों को धारण करने में विरोध की कोई बात नहीं।

तदुक्तं श्रीमत्पौष्करे—

८. साधकस्य तु रक्षार्थं तस्य रूपमिदं स्मृतम्। इति।

अन्यत्रापि—

आकारवांस्त्वं नियमादुपास्यो
न वस्त्वनाकारमुपैति बुद्धिः ॥ इति ।

कृत्यपञ्चकं च प्रपञ्चितं भोजराजेन—

९. पञ्चविधं तत्कृत्यं सृष्टिस्थितिसंहारतिरोभावः ।
तद्वदनुग्रहकरणं प्रोक्तं सततोदितस्यास्य ॥ इति ।

जैसा कि श्रीमान् पुष्कर के ग्रंथ में लिखा है—'साधक की रक्षा के लिए ही उस परमेश्वर का ऐसा रूप माना जाता है।' दूसरी जगह भी कहा गया है—'तुम आकारवान् हो, नियम से उपासना करने के योग्य हो क्योंकि निराकार वस्तु का ग्रहण हमारी बुद्धि नहीं कर सकती।' [यह भगवान् के समक्ष की गई भक्त की प्रार्थना का खण्ड है] ।

भोजराज ने पाँच कृत्यों का निरूपण इस प्रकार किया है—'उस (परमेश्वर) के कृत्य पाँच प्रकार के होते हैं—सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव तथा अनुग्रह करना, ये उस निरन्तर जागरूक रहने वाले परमेश्वर के कृत्य हैं।'

विशेष—उपासना का अर्थ है सेवा। इसके कायिक, वाचिक और मानसिक तीन भेद हैं। कायिक का अर्थ है पाद्य, अर्घ्य, स्नान, धूप, दीप, नैवेद्य आदि पंचोपचार या षोड़शोपचार से पूजा। वाचिक का अर्थ स्तोत्रपाठ करना है। मानसिक का अर्थ ध्यान जपादि है। निराकार का खंडन करते हुए ये लोग कहते हैं कि निराकार की सेवा मानसिक ही नहीं हो सकती, कायिक और वाचिक की तो बात ही दूर है। निराकार पदार्थ को मन (बुद्धि) अपना विषय बना ही नहीं सकता क्योंकि विषय बनाने का अर्थ है वस्तु के आकार के समान ही बुद्धि में आकार ग्रहण करना, जो निराकार वस्तु के साथ होना असंभव ही है। बुद्धि की पकड़ में न आने के कारण वाचिक स्तोत्रपाठ भी नहीं होगा। कायिक सेवा तो निराकार की हो ही नहीं सकती।

एतच्च कृत्यपञ्चकं शुद्धाध्वविषये साक्षाच्छिवकर्तृकं कृच्छ्राध्वविषये त्वनन्तादिद्वारेणेति विवेकः। तदुक्तं श्रीमत्करणे—

शुद्धेऽध्वनि शिवः कर्ता प्रोक्तोऽनन्तोऽहिते प्रभोः ॥ इति ।

एवं च शिवशब्देन शिवत्वयोगिनां मन्त्रमन्त्रेश्वरमहेश्वरमुक्तात्मशिवानां सवाचकानां शिवत्वप्राप्तिसाधनेन दीक्षादिनो-

पायकलापेन सह पतिपदार्थे संग्रहः कृत इति बोद्धव्यम् । तदित्थं पतिपदार्थो निरूपितः ।

इन पाँच कृत्यों का संपादन, शुद्ध-मार्ग के विषय में, साक्षात् शिव के ही द्वारा होता है, यदि कृच्छ्र (कृष्ण या अशुद्ध या अहित) मार्ग की चर्चा हो तो अनन्त आदि अधिकारियों के द्वारा इनका संपादन होता है—यही पार्थक्य है । जैसा कि श्रीमत् करण (चौथे आगम) में कहा है—'शुद्ध मार्ग में शिव ही कर्ता कहलाता है और अहित मार्ग में शिव के [प्रयोज्य रूप में विख्यात] अनन्त कर्ता हैं ।'

इस प्रकार यह समझ लें कि 'शिव' शब्द के द्वारा, शिवत्व से संबद्ध सभी पदार्थ जैसे मन्त्र, मंत्रेश्वर, महेश्वर, मुक्त आत्मा, शिव—इन सभी का, शैवदर्शन के प्रवचनकर्ताओं का तथा शिवत्व की प्राप्ति कराने वाले साधन, जैसे दीक्षादि उपाय समूह, का संग्रह पति-पदार्थ में ही हो जाता है । इस तरह पति पदार्थ का निरूपण समाप्त हुआ ।

विशेष—उपसंहार-वाक्य में 'पति' पदार्थ की व्याप्ति पर विचार किया गया है । ऊपर कह चुके हैं कि पति का अर्थ शिव है, किन्तु अब विश्लेषण करने पर उसका क्षेत्र कुछ बड़ा मालूम पड़ता है । शिवत्व-धर्म से जिन पदार्थों का संबंध है वे सभी (शिवत्वयोगी) पदार्थ पति के अंतर्गत हैं । वे हैं—पाँचों मंत्र, मण्डली आदि मन्त्रों के ईश्वर, महेश्वर अर्थात् विद्येश्वर (जिनका निरूपण तुरत ही होने वाला है), मुक्त आत्मायें तथा स्वयं शिव पदार्थ । मंत्र से जीवविशेष का भी बोध होता है जिनका वर्णन विद्येश्वरों के साथ होगा । यही नहीं, इन पदार्थों के वाचक शब्द या आचार्य भी इसी 'पति' पदार्थ के अन्तर्गत हैं । शिवत्व-प्राप्ति कराने वाले साधन, जैसे— दीक्षा आदि सारे उपाय-समूह, भी पति ही हैं । अतः पति का क्षेत्र बहुत व्यापक है । उसके अनन्तर 'पशु' पदार्थ का निरूपण होगा ।

(४. 'पशु' पदार्थ का निरूपण—अन्य मतों का खण्डन)

संप्रति पशुपदार्थो निरूप्यते—अनणुः क्षेत्रज्ञादिपदवेदनीयो जीवात्मा पशुः । न तु चार्वाकादिवद् देहादिरूपः । 'नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यः' इति न्यायेन प्रतिसंधानानुपपत्तेः । नापि नैयायिकादिवत्प्रकाश्यः । अनवस्थाप्रसङ्गात् । तदुक्तम्—

१०. आत्मा यदि भवेन्मेयस्तस्य माता भवेत्परः ।
पर आत्मा तदानीं स्यात्स परो यदि दृश्यते ॥ इति ।

अब हम 'पशु' पदार्थ का निरूपण करते हैं। जो अणु नहीं है, 'क्षेत्रज्ञ' (शरीर का ज्ञाता) आदि पर्यायवाची शब्दों से जिसका बोध हो, वह जीवात्मा **पशु** है।

(१) चार्वाक आदि मतवादियों की तरह आत्मा को **शरीर** के रूप में नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसी स्थिति में [दो अवस्थाओं की बातों में स्मृति के द्वारा] संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता—एक नियम है कि एक व्यक्ति के द्वारा देखी गई बातों का स्मरण दूसरा व्यक्ति नहीं कर सकता। [यदि आत्मा को शरीर मान लेते हैं तो शरीर में अन्तर के साथ-साथ आत्मा भी बदल जायगी। बाल्यावस्था में जो शरीर है वह तरुणावस्था में नहीं—चार्वाकों के अनुसार तब तो आत्मा भी बदल गई होगी। अर्थात् दो अवस्थाओं में दो पृथक्-पृथक् जीवात्मायें हैं। फिर एक जीवात्मा के काल में होने वाली घटना का स्मरण दूसरी जीवात्मा कैसे कर लेगी ? बाल्यावस्था की बात तरुणावस्था में कैसे याद आयेगी ? अतः चार्वाकों का आत्म-विषयक मत ठीक नहीं है।]

(२) नैयायिकों की तरह आत्मा को प्रकाश्य (ज्ञेय, knowable) भी नहीं मान सकते क्योंकि ऐसा करने पर अनवस्था-दोष होने का भय है। [आत्मा यदि प्रकाश्य है तो उसका प्रकाशक या ज्ञाता कोई अवश्य होगा क्योंकि एक ही क्रिया (जानना) में एक ही साथ कोई एक पदार्थ कर्ता और कर्म नहीं हो सकता। अब जो दूसरा ज्ञाता (आत्मा ही को लें) है उसका भी तो कोई ज्ञाता होगा जो उससे पृथक् ही होगा। इस प्रकार यह समस्या अनन्त काल तक चलती चलेगी।] जैसा कि कहा गया है—'आत्मा यदि मेय (ज्ञेय) है तो इसका माता (ज्ञाता, जानने वाला, √ मा) कोई दूसरा अवश्य होना चाहिए। उसी अवस्था में दूसरे ज्ञाता की सत्ता स्वीकरणीय है जब वह दूसरी आत्मा जानी जाय या देखने में आये। [पहली दशा में अनवस्था होगी, दूसरी दशा में अनुभव का विरोध होगा।]

न च जैनवदव्यापकः। नापि बौद्धवत्क्षणिकः। देशकालाभ्यामनवच्छिन्नत्वात्। तदप्युक्तम्—

११. अनवच्छिन्नसद्भावं वस्तु यद्देशकालतः।
तन्नित्यं विभु चेच्छन्तीत्यात्मनो विभुनित्यता ॥ इति।

नापि अद्वैतवादिनामिवैकः। भोगप्रतिनियमस्य पुरुषबहुत्वज्ञापकस्य संभवात्।

(३) जैनों की तरह आत्मा को अव्यापक (non-pervading) भी नहीं मान सकते और (४) न बौद्धों की तरह क्षणिक ही। देश और काल

(Space and Time) के द्वारा आत्मा की इयत्ता (अवच्छेद, limit सीमा) निर्धारित नहीं हो सकती। [जैन लोग आत्मा को अव्यापक मानते हैं अर्थात् आत्मा की सीमा देश के द्वारा निर्धारित हो जाती है। परन्तु आत्मा देश (Space) के द्वारा निर्धारित नहीं हो सकती कि वह अमुक देश में है, अमुक में नहीं। स्थान से अव्याप्त रहने पर व्यापक-अव्यापक का प्रश्न नहीं उठता, वस्तुतः आत्मा विभु (All-pervading) है। अव्यापक मानने का अर्थ है कि देश के द्वारा आत्मा अवच्छिन्न (व्याप्त) हो जाती है जो अभीष्ट नहीं। दूसरी ओर, बौद्ध लोग आत्मा को क्षणिक मानते हैं अर्थात् आत्मा काल के द्वारा अवच्छिन्न है, परन्तु वास्तव में काल की सीमा में आत्मा नहीं आती—यह नित्य है।]

यह भी कहा गया है—'जो वस्तु देश और काल की इयत्ता से रहित सत्ता धारण करती है उसे नित्य और विभु मानने की इच्छा वे लोग करते हैं, इस प्रकार आत्मा की विभुता और नित्यता स्वीकार की जाती है।'

(५) अद्वैतवादियों की तरह आत्मा को **एक** (Monistic) भी नहीं माना जा सकता। विभिन्न भोगों (सुख और दुःख का साक्षात्कार) के नियम को देखकर यह मालूम होता है कि पुरुष की बहुलता है। [विभिन्न पुरुष विभिन्न भोग भोगते हैं, कोई सुख भोगता है तो कोई दुःख। जो फल राम को मिलता है वही मोहन को नहीं—भोगों के इस नियम से पुरुषों की अनेकता का अनुमान होता है। कर्मों के द्वारा इसका नियन्त्रण नहीं होता। यदि जीव को एक मानें तो अमुक ने यह कर्म किया और अमुक ने नहीं—ऐसा कहना कठिन हो जायगा, इसलिए जीवों को अनेक मानें।]

नापि सांख्यानामिवाकर्ता। पाशजालापोहने नित्यनिरतिशयदृक्क्रियारूपचैतन्यात्मकशिवत्वश्रवणात्। तदुक्तं श्रीमन्मृगेन्द्रैः—'पाशान्ते शिवताश्रुतेः' इति।

१२. चैतन्यं दृक्क्रियारूपं तदस्त्यात्मनि सर्वदा।
सर्वतश्च यतो मुक्तौ श्रूयते सर्वतोमुखम्॥ इति।

तत्त्वप्रकाशेऽपि—

१३. मुक्तात्मानोऽपि शिवाः किं त्वेते यत्प्रसादतो मुक्ताः।
सोऽनादिमुक्त एको विज्ञेयः पञ्चमन्त्रतनुः॥ इति।

(६) सांख्यों की तरह हम आत्मा को अकर्ता भी नहीं मान सकते। जब पाशों का जाल (समूह) समाप्त हो जाता है, तब नित्य और निरतिशय (सबसे

ऊँची) दृष्टिशक्ति और क्रियाशक्ति के रूप में चैतन्यात्मक शिवत्व की प्राप्ति होती है, ऐसा श्रुतियों में कहा है। [चैतन्य नित्य है, वह दृक् और क्रिया के रूप में है, अतः वह नित्य रूप से कर्ता है। बद्ध जीवात्मायें अपनी इन्द्रियों के द्वारा विभिन्न क्रियायें करती हैं, यह हम रोज देखते हैं। जो जीव मोक्ष की इच्छा रखते हैं वे मल, कर्म आदि पाश-जाल का विनाश करने के लिए व्रत, चर्या आदि क्रियायें ही तो करते हैं। मुक्त आत्मायें भी शिवत्व की प्राप्ति करती हैं— यह भी तो कर्म ही है क्योंकि शिवत्व का अर्थ होता है दृक् और क्रिया के रूप में चैतन्य। क्रिया बिना कर्ता के सम्भव नहीं है इसलिए जीवात्मा कर्ता है।] श्रीमान् मृगेन्द्र ने यही कहा है—'पाशों का नाश हो जाने पर शिवत्व-प्राप्ति की बात श्रुतियों से सिद्ध है।'

'दृक् (Vision) और क्रिया (Action) के रूप में जो चैतन्य है, वह आत्मा में सब समय सब तरह से है क्योंकि मुक्ति होने पर सभी ओर मुख (द्वार, अप्रतिहत गति) वाला चैतन्य सुना जाता है।' [तात्पर्य यह है कि मुक्ति मिल जाने पर जीव की दृक्शक्ति (ज्ञान) या क्रियाशक्ति सर्वतोगामिनी बन जाती है, उसे रोक नहीं सकता।] तत्त्वप्रकाश में भी कहा है—'मुक्त आत्मायें भी शिव ही हैं, किन्तु ये जिसकी कृपा से मुक्त हुई हैं, वह अनादि काल से मुक्त परमेश्वर एक ही है जिसका शरीर पाँच मन्त्रों का बना हुआ समझें।'

(५. जीव के तीन भेद)

पशुस्त्रिविधः—विज्ञानाकल-प्रलयाकल-सकलभेदात्। तत्र प्रथमो विज्ञानयोगसंन्यासैर्भोगेन वा कर्मक्षये सति कर्मक्षयार्थस्य कलादिभोगबन्धस्य अभावात् केवलमलमात्रयुक्तो 'विज्ञानाकल' इति व्यपदिश्यते। द्वितीयस्तु प्रलयेन कलादेरुपसंहारान्मलकर्म-युक्तः 'प्रलयाकल' इति व्यवह्रियते। तृतीयस्तु मलमायाकर्मा-त्मकबन्धत्रयसहितः 'सकल' इति संलिप्यते।

पशु तीन प्रकार का है—(१) विज्ञानाकल, (२) प्रलयाकल और (३) सकल। उनमें पहला केवल मल से ही युक्त रहता है (अन्य तीन पाशों से नहीं) तथा **विज्ञानाकल** कहलाता है क्योंकि इसमें विज्ञान (परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान), योग (जप, ध्यान आदि) और संन्यास से अथवा भोग से (= कर्मफल का भोग कर लेने पर) कर्म का विनाश हो जाता है तथा कर्मक्षय के लिए बने कला (इनका वर्णन आगे होगा) आदि भोगबन्ध (शरीर) का अभाव रहता है। [जिसमें कला न हो वह अकल है। कर्म का क्षय हो जाने पर उनका फल-

भोग करने वाले शरीर की आवश्यकता नहीं रहती। अतः शरीर के प्रयोजक कला आदि या इन्द्रियों का अत्यन्त अभाव हो जाता है इसलिए वह पशु अ-कल है। चूँकि विज्ञान के कारण अकलता प्राप्त होती है इसलिए इसे विज्ञानाकल कहते हैं।] दूसरा **प्रलयाकल** कहलाता है क्योंकि प्रलय (dissolution) के द्वारा इसमें कलादि (शरीर के प्रयोजक) का विनाश होता है—इसमें मल के साथ कर्म भी (=कुल दो पाश) रहता है। तीसरा **सकल** है क्योंकि इसमें मल, माया, कर्म—ये तीन बन्धन या पाश रहते हैं।

(५ क. विज्ञानाकल जीव के दो भेद)

तत्र प्रथमो द्विप्रकारो भवति—समाप्तकलुषासमाप्तकलुष-भेदात्। तत्राद्यान् कालुष्यपरिपाकवतः पुरुषधौरेयानधिकारयोग्यान् अनुगृह्य अनन्तादिविद्येश्वराष्टपदं प्रापयति। तद्विद्येश्वराष्टकं निर्दिष्टं बहुदैवत्ये—

१४. अनन्तश्चैव सूक्ष्मश्च तथैव च शिवोत्तमः।
एकनेत्रस्तथैवैकरुद्रश्चापि त्रिमूर्त्तिकः॥
१५. श्रीखण्डश्च शिखण्डी च प्रोक्ता विद्येश्वरा इमे। इति।

उनमें पहला (विज्ञानाकल) दो प्रकार का है—जिनका कलुष (मल) समाप्त हो गया है तथा जिनका कलुष समाप्त नहीं हुआ है। जिन लोगों के कालुष्य या मल का विनाश (परिपाक) हो जाता है वे पुरुषों में श्रेष्ठ हैं तथा अधिकार (ईश्वरप्राप्ति) के सर्वथा योग्य हैं, उन्हें अनुगृहीत (उन पर कृपा) करके उन्हें अनन्त आदि आठ विद्येश्वरों के पद पर पहुँचाया जाता है [—इन्हें ही समाप्तकलुष विज्ञानाकल जीव कहते हैं] आठ विद्येश्वरों का निर्देश बहुदैवत्य नामक ग्रन्थ में इस प्रकार हुआ है—'अनन्त, सूक्ष्म, शिवोत्तम, एकनेत्र, एकरुद्र, त्रिमूर्ति, श्रीकण्ठ और शिखण्डी—ये ही आठ विद्येश्वर कहे गये हैं।' [ये विद्येश्वर जीवों में सबसे ऊँचे हैं, इन्हें शिवत्व की प्राप्ति हो जाती है। जीव अधिक से अधिक यही पद पा सकता है, यदि जीवावस्था में हो। ये मुक्त नहीं हैं, केवल शिव का अनुग्रह प्राप्त किये हुए अधिकारी हैं। समाप्तकलुष से केवल इन विद्येश्वरों का ही बोध होता है।]

अन्या (न्त्या) न्सप्तकोटिसंख्यातान्मन्त्राननुग्रहकरणान्विधत्ते। तदुक्तं तत्त्वप्रकाशे—

१६. पशवस्त्रिविधाः प्रोक्ता विज्ञानप्रलयकेवलौ सकलः ।
मलयुक्तस्तत्राद्यो मलकर्मयुतो द्वितीयः स्यात् ॥

१७. मलमायाकर्मयुतः सकलस्तेषु द्विधा भवेदाद्यः ।
आद्यः समाप्तकलुषोऽसमाप्तकलुषो द्वितीयः स्यात् ॥

१८. आद्याननुगृह्य शिवो विद्येशत्वे नियोजयत्यष्टौ ।
मन्त्राँश्च करोत्यपराँस्ते चोक्ताः कोटयः सप्त ॥ इति ।

असमाप्तकलुष जीवों को [शिव] अनुग्रह करनेवाले सात करोड़ मन्त्रों का रूप दे देता है । [मन्त्र तो कर्म और शरीर से मुक्त रहते हैं, केवल मल उनमें रहता है, ये ऐसे जीव-विशेष हैं । ये संख्या में सात करोड़ हैं तथा दूसरे जीवों पर दया भी करते हैं ।] तत्त्वप्रकाश में कहा गया है—

'तीन प्रकार के पशु होते हैं, केवल विज्ञान, केवल प्रलय तथा सकल । उनमें पहला (विज्ञानाकल) मलयुक्त होता है, दूसरा (प्रलयाकल) मल और कर्म से युक्त रहता है । सकल में मल, माया और कर्म होते हैं । उनमें प्रथम के दो भेद हैं—समाप्तकलुष और असमाप्तकलुष । प्रथम भेद मे पड़नेवाले जीवों पर शिव कृपा करके विद्येश्वरों के आठ पद प्रदान करता है जब कि दूसरे भेद में आनेवाले जीवों को मन्त्रों का पद देता है जो संख्या में सात करोड़ हैं ।'

सोमशंभुनाप्यभिहितम्—

१९. विज्ञानाकलनामैको द्वितीयः प्रलयाकलः ।
तृतीयः सकलः शास्त्रेऽनुग्राह्यस्त्रिविधो मतः ॥

२०. तत्राद्यो मलमात्रेण युक्तोऽन्यो मलकर्मभिः ।
कलादिभूमिपर्यन्ततत्त्वैस्तु सकलो युतः ॥ इति ।

सोम-शंभु ने भी ऐसा ही कहा है—'एक विज्ञानाकल नाम का है, दूसरा प्रलयाकल, तीसरा सकल—शास्त्र में ये तीन प्रकार के अनुग्राह्य (दया के पात्र, जीव) माने गये हैं । उनमें प्रथम केवल मल से ही युक्त रहता है, दूसरा मल और कर्म से युक्त है तथा सकल कला से लेकर भूमि पर्यन्त तत्त्वों (सात कलायें, तीन अन्तःकरण दस इन्द्रियाँ, शब्दादि पाँच तन्मात्र, आकाशादि भूमिपर्यन्त पाँच तत्त्व = कुल ३० तत्त्व) से युक्त रहता है ।'

(५ ख. प्रलयाकल जीव के दो भेद)

प्रलयाकलोऽपि द्विविधः—पक्कपाशद्वयस्तद्विलक्षणश्च । तत्र प्रथमो मोक्षं प्राप्नोति । द्वितीयस्तु पुर्यष्टकयुतः कर्मवशान्नानाविधजन्मभाग्भवति । तदप्युक्तं तत्त्वप्रकाशे—

२१. प्रलयाकलेषु येषामपक्वमलकर्मणी व्रजन्त्येते ।
पुर्यष्टकदेहयुता योनिषु निखिलासु कर्मवशात् ॥ इति ।

प्रलयाकल जीव भी दो प्रकार का होता है—जिसके दो पाश (मल और कर्म) परिपक्व हो गये हैं तथा जिसके दो पाश परिपक्व नहीं हुए हैं । [परिपक्व का अर्थ है जो अपने कार्य को करने में असमर्थ है । दो पाशों के परिपक्व हो जाने से भोग की भी हानि हो जाती है और जीव मुक्त होता है ।] इनमें पहले प्रकार का जीव मोक्ष प्राप्त करता है जब कि दूसरा पुर्यष्टक (शरीर) प्राप्त करके कर्म के वश में होकर नाना प्रकार के जन्म प्राप्त करता है । [पुर्यष्टक से 'तीस तत्त्वों से बना हुआ शरीर' अर्थ लिया जाता है । वे तत्त्व हैं—पाँच महाभूत, पाँच तन्मात्र, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, सात कलादि, तीन अन्तःकरण—इनके विवरण के लिए आगे देखें ।] तत्त्वप्रकाश में यह भी कहा गया है—'प्रलयाकल जीवों में जिनके मल और कर्म परिपक्व नहीं, वे कर्म के वश में होकर पुर्यष्टक (तीस तत्त्वों से बनी) देह धारण करके सभी योनियों में विचरण करते रहते हैं ।'

पुर्यष्टकमपि तत्रैव निर्दिष्टम्—

स्यात्पुर्यष्टकमन्तःकरणं धीकर्मकरणानि । इति ।

विवृतं चाघोरशिवाचार्येण—पुर्यष्टकं नाम प्रतिपुरुषं नियतः, सर्गादारभ्य कल्पान्तं मोक्षान्तं वा स्थितः, पृथिव्यादिकलापर्यन्तस्त्रिंशत्तत्त्वात्मकः, सूक्ष्मो देहः । तथा चोक्तं तत्त्वसंग्रहे—

२२. वसुधाद्यस्तत्त्वगणः प्रतिपुंनियतः कलान्तोऽयम् ।
पर्यटति कर्मवशाद् भुवनजदेहेष्वयं च सर्वेषु ॥ इति ।

पुर्यष्टक का उल्लेख भी उसी स्थान पर हुआ है—अन्तःकरण (मन, बुद्धि और अहंकार तथा सात कलादि), बुद्धि के कर्म (= ज्ञेय; पाँच भूत + पाँच तन्मात्र) और करण (साधन अर्थात् दस इन्द्रियाँ क्योंकि वे ज्ञान और कर्म के साधन हैं)—इसे पुर्यष्टक कहते हैं ।

अघोरशिवाचार्य ने इसका विवरण दिया है—पुर्यष्टक उस सूक्ष्म देह को कहते हैं जो प्रत्येक पुरुष के लिए निश्चित रहती है, सृष्टि के आरम्भ से लेकर कल्प के अन्त तक या मोक्ष के अन्त तक स्थिर रहती है और पृथिवी आदि कला-पर्यन्त तीस तत्त्वों से निर्मित होती है। जैसा कि तत्त्वसंग्रह में कहा गया है—'वसुधा (पृथिवी) से आरम्भ करके कला-पर्यन्त जो तत्त्वों का समूह है वह प्रत्येक पुरुष के लिए नियत है तथा कर्मसिद्धान्त के अनुसार वह भुवन में उत्पन्न होनेवाले (पशु, पक्षी, मनुष्य आदि) सभी जीवों के शरीरों में घूमता रहता है।'

तथा चायमर्थः समपद्यत—अन्तःकरणशब्देन मनोबुद्ध्यहंकारवाचिनाऽन्यान्यपि पुंसो भोगक्रियायामन्तरङ्गाणि कला-काल-नियति-विद्या-राग-प्रकृति-गुणाख्यानि सप्त तत्त्वान्युपलक्ष्यन्ते। धीकर्मशब्देन ज्ञेयानि पञ्चभूतानि तत्कारणानि च तन्मात्राणि विवक्ष्यन्ते। करणशब्देन ज्ञानकर्मेन्द्रियदशकं संगृह्यते।

इस प्रकार यह अर्थ संपन्न हुआ—'अन्तःकरण' शब्द से, जिससे मन, बुद्धि और अहंकार का बोध होता है, पुरुष की भोग-क्रिया में अनिवार्य (अन्तरंग) रूप से विद्यमान कला, काल, नियति (अदृष्ट Fate), विद्या, राग (Infatuation विषयासक्ति), प्रकृति और गुण—इन सात तत्त्वों को भी उपलक्षित (include) किया जाता है। 'धीकर्म' शब्द से ज्ञेय पाँच भूतों को और उनके कारणरूप पाँच तन्मात्रों को समझा जाता है। 'करण' शब्द से ज्ञान और कर्म की दस इन्द्रियाँ ली जाती हैं। [इस तरह कुल तीस तत्त्वों को **पुर्यष्टक** कहते हैं।]

विशेष—कलादि सात तत्त्वों से सृष्टि का क्रम समझा जाता है। समस्त सृष्टि के मूल में माया-तत्त्व है जो अत्यन्त सूक्ष्म तथा प्रलय-काल में भी नष्ट नहीं होने वाला है। परमेश्वर के साथ, सृष्टि के आरंभ में, उसका संपर्क होता है और उसमें परिणाम उत्पन्न होते हैं। प्रथम परिणाम कला है जो माया की अपेक्षा कम सूक्ष्म तथा प्रलयकाल में नष्ट हो जानेवाली है। अभी भी तीन गुणों की उत्पत्ति न होने के कारण यह गुणत्रय से भी परे है। इसके बाद काल आता है जो एक ही है, बाद में आने वाली सभी चीजें काल के अधीन हैं। तदनन्तर नियति की उत्पत्ति होती है जो विभिन्न प्रकार की है क्योंकि जीव के द्वारा किये गये पूर्व कर्मों के अनुसार काल के नियम से, जीवों से यह संबद्ध रहती है। नियति से विद्या उत्पन्न होती है जिसे चित्त के रूप में जीव का गुण भी मानते हैं। उसके बाद राग (विषयासक्ति) आता है। यह द्वेष का विरोधी है तथा जीव का एक गुण ही है। उपर्युक्त ··नों तत्त्व (विद्या और राग) प्रत्येक जीव

के लिए भिन्न-भिन्न हैं। तब प्रकृति (स्वभाव) का तत्त्व उत्पन्न होता है, तब तीन गुण आते हैं।

इन सात तत्त्वों की उत्पत्ति के बाद ही तीन अन्तःकरण उत्पन्न होते हैं। अन्तःकरण के पश्चात् पाँच सूक्ष्म-तत्त्व (शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श--ये तन्मात्र) उत्पन्न होते हैं तथा पाँच स्थूल-तत्त्व (पृथ्वी आदि पाँच महाभूत) उसके बाद आते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति उसके बाद होने पर स्थूल देह बनती है। यह सृष्टिक्रम सांख्यदर्शन से बहुलांश में समान है। यहाँ इन तीस तत्त्वों को पुर्यष्टक कहते हैं।

ननु श्रीमत्कालोत्तरे—

२३. शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसो गन्धश्च पञ्चकम्।
बुद्धिर्मनस्त्वहंकारः पुर्यष्टकमुदाहृतम्॥

इति श्रूयते। तत्कथमन्यथा कथ्यते? अद्धा, अत एव च तत्रभवता रामकाण्डेन तत्सूत्रं त्रिंशत्तत्त्वपरतया व्याख्यायीत्यलमतिप्रपञ्चेन।

अब कोई पूछ सकता है कि श्रीमत् कालोत्तर नामक आगम में ऐसा सुनते हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पाँचों का समूह तथा बुद्धि, मन और अहंकार, ये मिलकर पुर्यष्टक कहलाते हैं।' तो फिर आप लोग यहाँ अन्य प्रकार से (तीस तत्त्वों का पुर्यष्टक) कैसे कहते हैं? ठीक है, इसीलिए तो आदरणीय रामकाण्ड ने उपर्युक्त उद्धृत सूत्र (श्लोकात्मक) की व्याख्या इस तरह की है कि तीस तत्त्वों का अभिप्राय निकले--अधिक विस्तार क्या करें?

विशेष—पुर्यष्टक में दो शब्द हैं 'पुरि = शरीरे, अष्टकम्।' शरीर में आठ चीजों का ही वास्तव में ग्रहण करना चाहिए किन्तु मूल-शब्द को कौन पूछता है? शब्द पड़ा रह जाता है और अर्थ कहाँ-से-कहाँ पहुँच जाता है--पुर्यष्टक = तीस तत्त्वों से निर्मित शरीर! कोई आठ तत्त्वों का निर्देश भी करे तो उसकी व्याख्या में ३० तत्त्वों को समाहित करना ही है।

तथापि कथमस्य पुर्यष्टकत्वम्? भूततन्मात्रबुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियान्तःकरणसंज्ञैः पञ्चभिर्वर्गैः तत्कारणेन प्रधानेन कलादिपञ्चकात्मना वर्गेण चारब्धत्वादित्यविरोधः। तत्र पुर्यष्टकयुतानविशिष्टपुण्यसंपन्नान् कांश्चिदनुगृह्य भुवनपतित्वमत्र महेश्वरोऽनन्तः प्रयच्छति। तदुक्तम्—

काँश्चिदनुगृह्य वितरति भुवनपतित्वं महेश्वरस्तेषाम् ॥ इति ।

फिर भी इसे पुर्यष्टक कैसे कहते हैं ? ['पुर्यष्टक' में 'आठ' शब्द है जिसका तात्पर्य कुछ न-कुछ तो होगा ही। तीस तत्त्वों वाले पुर्यष्टक में 'अष्ट' संख्या आई कैसे ?]

इस प्रकार यदि अवान्तर वर्गों के द्वारा हम गिनायें तो विरोध नहीं होगा-- पञ्च महाभूत, पञ्च तन्मात्र, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और तीन अन्तःकरण --ये पाँच वर्ग हुए; अब इनके कारणस्वरूप तीन गुण, प्रधान (= समस्त संसार का मूल कारण, प्रकृति) तथा कलादि पाँच तत्त्वों (कला, काल, नियति, विद्या, राग) का वर्ग--ये तीन वर्ग हुए। [सब मिलकर आठ वर्ग हो जाते हैं। फिर विरोध कैसे ?] पुर्यष्टक से युक्त तथा विशेष पुण्य करने वाले कुछ लोगों पर अनुग्रह (दया) करके महेश्वर अनन्त उन्हें इसी संसार से भुवनपति का पद देते हैं। जैसा कि कहा गया है--'इन लोगों में कुछ पुरुषों पर दया करके महेश्वर उन्हें भुवनपति का पद दे देते हैं।' [यहाँ महेश्वर का अर्थ विद्येश्वर है।]

(५. ग. 'सकल' जीव के भेद)

सकलोऽपि द्विविधः। पक्वकलुषापक्वकलुषभेदात्। तत्राद्यान्परमेश्वरस्तत्परिपाकपरिपाट्या तदनुगुणशक्तिपातेन मण्डल्याद्यष्टादशोत्तरशतमन्त्रेश्वरपदं प्रापयति। तदुक्तम्—

२४. शेषा भवन्ति सकलाः कलादियोगादहर्मुखे काले।
शतमष्टादश तेषां कुरुते स्वयमेव मन्त्रेशान् ॥
२५. तत्राष्टौ मण्डलिनः क्रोधाद्यास्तत्समाश्च वीरेशः।
श्रीकण्ठः शतरुद्राः शतमित्यष्टादशाभ्यधिकम् ॥ इति।

सकल भी दो प्रकार का है—पक्वकलुष (जिनके कलुष पक्व हो गये हैं) तथा अपक्वकलुष। उनमें पक्वकलुष जीवों को, परमेश्वर, उनके परिपाक की प्रणाली को देखकर, उसके अनुसार ही [दृक् और क्रिया को आच्छादित करने वाली] शक्ति का ह्रास होने पर, मण्डली आदि एक सौ अठारह मन्त्रेश्वरों (एक प्रकार के जीव) का पद प्रदान करता है। [तात्पर्य यह है कि जैसे-जैसे मल आदि पाशों का परिपाक बढ़ते जाता है वैसे-वैसे ही उन पाशों में विद्यमान ज्ञान और क्रिया की आच्छादन-शक्ति भी क्षीण होती जाती है। शक्ति क्षीण हो जाने से पाश बेचारे कुछ नहीं कर पाते—रहकर भी नहीं रहते। ऐसी दशा में ही

जीव मन्त्रेश्वर का पद प्राप्त करता है। इसके पहले सात करोड़ मन्त्रों का वर्णन हो चुका है, जो जीव ही हैं—उस पद को प्राप्त करने के अधिकारी ये मन्त्रेश्वर ही हैं।]

जैसा कि कहा गया है—'अवशिष्ट जीव सकल कहलाते हैं क्योंकि सृष्टि के आरंभ के समय में इनका संबंध कला आदि के साथ रहता है। इनमें एक सौ अठारह जीवों के शिव स्वयं मन्त्रेश्वर बना देते हैं ॥ २४ ॥ इनमें आठ तो मण्डली कहलाते हैं, फिर उतने ही क्रोधादि तत्त्व हैं (= आठ), वीरेश और श्रीकण्ठ के बाद एक सौ रुद्र—इस प्रकार कुल ११८ मन्त्रेश्वर हैं ॥ २५ ॥'

विशेष—अहर्मुख काल = सृष्टि के आरंभ का समय। सृष्टि को दिन कहते हैं तथा प्रलय को रात्रि। दिन का मुख अर्थात् सृष्टि का आरंभ।

तत्परिपाकाधिक्यानुरोधेन शक्त्युपसंहारेण दीक्षाकरणेन मोक्षप्रदो भवत्याचार्यमूर्तिमास्थाय परमेश्वरः। तदप्युक्तम्—

२६. परिपक्वमलानेतानुत्सादनहेतुशक्तिपातेन।
योजयति परे तत्त्वे स दीक्षयाचार्यमूर्तिस्थः ॥ इति।

श्रीमन्मृगेन्द्रेऽपि—

पूर्वं व्यत्यासितस्याणोः पाशजालमपोहति ॥ इति।

उन पाशों का परिपाक इतना अधिक हो जाता है कि उन्हीं के आग्रह से, रोध-शक्ति का सर्वथा विनाश हो जाने पर, उन जीवों के लिए, आचार्य की मूर्ति में प्रवेश करके, परमेश्वर दीक्षा के द्वारा मोक्षप्रद बनता है। यह भी कहा गया है—'जिनके मल पूर्णतः परिपक्व हो जाते हैं, उनकी विनाशक (उत्सादनहेतु = ज्ञान की विनाशक) शक्ति को समाप्त करके, वह परमेश्वर आचार्य की मूर्ति (शरीर) में अवस्थित होकर दीक्षा-दान करके परम तत्त्व से मिला देता है।'

श्रीमत् मृगेन्द्र में भी यही कहा है—'पहले व्यत्यासित (अनादि संस्कार से मुक्त किये गये) जीव (अणु) के पाश-जाल को ही वह दूर करता है।'

व्याकृतं च नारायणकण्ठेन। तत्सर्वं तत एवावधार्यम्। अस्माभिस्तु विस्तरभिया न प्रस्तूयते। अपक्वकलुषान्बद्धानणून्भोगभाजो विधत्ते परमेश्वरः कर्मवशात्। तदप्युक्तम्—

२७. बद्धाञ्छेषानपरान् विनियुङ्क्ते भोगभुक्तये पुंसः।
तत्कर्मणामनुगमादित्येवं कीर्तिताः पशवः ॥ इति।

नारायणकण्ठ ने इसकी व्याख्या भी की है। सब कुछ वहीं से देख लेना चाहिए। हम यहाँ केवल विस्तार के भय से नहीं दे रहे हैं।

जिन जीवों (अणुओं) के कलुष परिपक्व नहीं हुए हैं वे बद्ध हैं। उन्हें परमेश्वर कर्म के कारण भोग भोगने देता है। यह भी कहा है—'अवशिष्ट बचे हुए दूसरे पुरुषों को, जो अपने कर्मों में बँधे हैं, परमेश्वर उनके कर्मों के अनुसार भोग भोगने का विधान करता है; इस प्रकार पशुओं या जीवों का निरूपण समाप्त हुआ।'

(६. 'पाश' पदार्थ का निरूपण)

अथ पाशपदार्थः कथ्यते। पाशश्चतुर्विधः—मलकर्ममायारोधशक्तिभेदात्। ननु—

२८. शैवागमेषु मुख्यं पतिपशुपाशा इति क्रमात्त्रितयम्।
तत्र पतिः शिव उक्तः पशवो ह्यणवोऽर्थपञ्चकं पाशाः॥

इति पाशः पञ्चविधः कथ्यते। तत्कथं चतुर्विध इति गण्यते ?

अब पाश पदार्थ के विषय में कहा जाता है। पाश चार प्रकार के हैं—मल, कर्म, माया और रोधशक्ति। कुछ लोग आशंका करते हैं कि निम्नलिखित श्लोक में पाँच प्रकार के पाश बतलाये गये हैं, फिर आप लोग चार ही प्रकार कैसे गिनाते हैं ?—'शैवागमों में मुख्यरूप से पति, पशु और पाश ये क्रमशः तीन पदार्थ हैं। उनमें पति शिव को कहते हैं, अणु अर्थात् जीव पशु हैं और पाँच पदार्थ पाश, में हैं।' [इस आशंका का उत्तर अब दिया जायगा।]

उच्यते—बिन्दोर्मायात्मनः शिवतत्त्वपदवेदनीयस्य शिवपदप्राप्तिलक्षणपरममुक्त्यपेक्षया पाशत्वेऽपि तद्योगस्य विद्येश्वरादिपदप्राप्तिहेतुत्वेन अपरमुक्तित्वात्पाशत्वेनानुपादानम् इत्यविरोधः। अत एवोक्तं तत्त्वप्रकाशे—'पाशाश्चतुर्विधाः स्युः' इति। श्रीमन्मृगेन्द्रेऽपि—

२९. प्रावृतीशो बलं कर्म मायाकार्यं चतुर्विधम्।
पाशजालं समासेन धर्मा नाम्नैव कीर्तिताः॥ इति।

आशंका का उत्तर दिया जाता है—माया के रूप में जो बिन्दु है, जिसे 'शिवतत्त्व' भी कहते हैं [यही पंचम पाश है]। जिस मुक्ति में शिवपद की प्राप्ति हो जाय वही परम-मुक्ति है। इसकी अपेक्षा करने से तो बिन्दु पाश ही है किन्तु इससे सम्बन्ध होने पर केवल विद्येश्वर आदि के पदों की प्राप्ति होती है।

इसलिए इससे केवल अपर-मुक्ति ही होती है—यही कारण है कि इसे पाश के रूप में नहीं लिया जाता है, इस प्रकार दोनों मतों में कोई विरोध नहीं। [तात्पर्य यह है कि पाँचवाँ पाश मायात्मक बिन्दु को मानते हैं, जिसका दूसरा नाम शिवतत्त्व भी है : इस पाश से बद्ध जीव को परामुक्ति, जिसमें शिवपद की प्राप्ति होती है, नहीं मिलती; हाँ, अपरा या गौण मुक्ति मिलती है क्योंकि यह पाश केवल विद्येश्वर आदि पद ही दे सकता है। मलादि की तरह इसकी गति सर्वत्र नहीं है इसलिए इसे पाश नहीं माना जाता।]

इसीलिए तत्त्व-प्रकाश में कहा गया है—'पाश चार प्रकार के हैं।' श्रीमत् मृगेन्द्र में भी कहा गया है—'आवरण का स्वामी (आवृति + ईश = मल), बलवान् (रोधशक्ति), कर्म तथा माया के कार्य—ये पाशजाल हैं, इनके धर्म इनके अपने-अपने नाम (निर्वचन करके) से ही स्पष्ट हैं. [व्याख्या की आवश्यकता नहीं है।]

अस्यार्थः—आवृणोति प्रकर्षेणाच्छादयत्यात्मनः स्वाभाविक्यौ दृक्क्रिये इति आवृतिरशुचिर्मलः। स च ईष्टे स्वातन्त्र्येणेति ईशः। तदुक्तम्—

३०. एको ह्यनेकशक्तिर्दृक्क्रिययोश्छादको मलः पुंसः।
तुषतण्डुलवज्ज्ञेयस्ताम्राश्रितकालिकावद्वा॥ इति।

इसका यह अर्थ है—(१) आवरण अर्थात् अच्छी तरह (प्र) आत्मा की स्वभाविक दृक् (ज्ञान) और क्रिया की शक्तियों को आच्छादित (आवरण) करे वह आवृति या अपवित्र मल है। साथ-ही-साथ जो स्वतन्त्रतापूर्वक शासन (√ईश्) करे वह ईश है (अर्थात् शासक मल ही आवृतीश है)। कहा है—'जो एक होने पर भी अनेक शक्तियों (अनेक प्रकार की आच्छादनशक्ति तथा नियामकशक्ति) से युक्त है तथा पुरुष के ज्ञान और क्रिया को ढँकने वाला है, वही मल है। इसका ज्ञान तुष-तण्डुल के संबन्ध की तुलना से करें (आच्छादक और आच्छाद्य का संबन्ध, या ताम्र-धातु में स्थित कालिका (जंग या मोरचा लगना rust) की तुलना से करें।'

बलं रोधशक्तिः। अस्याः शिवशक्तेः पाशाधिष्ठानेन पुरुषतिरोधायकत्वादुपचारेण पाशत्वम्। तदुक्तम्—

३१. तासामहं वरा शक्तिः सर्वानुग्राहिका शिवा।
धर्मानुवर्तनादेव पाश इत्युपचर्यते॥ इति।

(२) बल का अर्थ रोधशक्ति है। यह शिवशक्ति (वस्तु की अपनी सामर्थ्य, जैसे अग्नि में दहनशक्ति, जल में शैत्योत्पादनशक्ति आदि) पाश में अधिष्ठित होकर पुरुष (आत्मा) के स्वरूप को छिपा देती है, इसलिए इसे औपचारिक (आलंकारिक) विधि से पाश मानते हैं। कहा गया है—'इनमें मैं सर्वश्रेष्ठ शक्ति हूँ और सबों पर दया करने वाली शिवा (कल्याणमयी) हूँ। धर्म (आश्रय की वस्तुओं के धर्म) के अनुसार चलने के कारण इसे पाश कहते हैं।' [ज्ञान और क्रिया की शक्तियों को ढँक देने की सामर्थ्य ही रोधशक्ति है जो मल में स्थित है।]

क्रियते फलार्थिभिरिति कर्म धर्माधर्मात्मकं बीजाङ्कुरवत्प्रवाहरूपेणानादि। यथोक्तं श्रीमत्किरणे—

३२. यथानादिर्मलस्तस्य कर्माल्पकमनादिकम्।
यद्यनादि न संसिद्धं वैचित्र्यं केन हेतुना॥ इति।

(३) फल के इच्छुक व्यक्ति जो कुछ करें वह कर्म है जिसमें धर्म और अधर्म दोनों ही आते हैं। बीज और अंकुर की तरह प्रवाह के रूप में यह अनादि काल से चला आ रहा है। श्रीमत् किरण में कहा गया है—'जिस प्रकार मल अनादि है उसी प्रकार जीव के जो थोड़े से कर्म हैं वे भी अनादि ही हैं। यदि कर्म को अनादि सिद्ध नहीं करें तो कर्मों की विचित्रता कैसे सिद्ध कर सकेंगे ? [इस समय जैसा विचित्र कर्म देखते हैं वैसा ही वह अनादि भी सिद्ध होता है। यदि कर्म को आदियुक्त मान लें तो उसकी विचित्रता का प्रारंभ में कोई कारण जरूर देना पड़ेगा। किन्तु कोई भी हेतु दिखलाया नहीं जा सकता इसलिए कर्म अनादि ही हैं।]

मात्यस्यां शक्त्यात्मना प्रलये सर्वं जगत्सृष्टौ व्यक्तिमायातीति माया। यथोक्तं श्रीमत्सौरभेये—

३३. शक्तिरूपेण कार्याणि तल्लीनानि महाक्षये।
विकृतौ व्यक्तिमायाति सा कार्येण कलादिना॥ इति।

(४) प्रलयकाल में शक्ति के रूप में जिसमें समूचा संसार परिमित रहता है (√ मा) तथा सृष्टिकाल में अभिव्यक्ति प्राप्त करता है (आ + √ या) वही माया है। जैसा कि श्रीमत् सौरभेय में कहा गया है—'महाक्षय (प्रलय) होने पर शक्ति के रूप में सारे कार्य (जगत् के पदार्थ) उसीमें विलीन हो जाते हैं और विकृति (सृष्टि) की अवस्था में कलादि कार्य के द्वारा अभिव्यक्त

हो जाते हैं। [अतः 'माया' शब्द की व्युत्पत्ति है √मा + आङ् उपसर्गसहित √या + घञ् के अर्थ में क प्रत्यय + टाप् स्त्रीलिंग प्रत्यय। अर्थ होगा--लीन होना और अभिव्यक्ति में आना।]

(७. उपसंहार)

यद्यप्यत्र बहु वक्तव्यमस्ति तथापि ग्रन्थभूयस्त्वभयादुपरम्यते। तदित्थं पतिपशुपाशपदार्थास्त्रयः प्रदर्शिताः।

३४. पतिविद्ये तथाविद्या पशुः पाशश्च कारणम्।
तन्निवृत्ताविति प्रोक्ताः पदार्थाः षट् समासतः॥

इत्यादिना प्रकारान्तरं ज्ञानरत्नावल्यादौ प्रसिद्धम्। सर्वं तत एवावगन्तव्यमिति सर्वं समञ्जसम्॥

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे शैवदर्शनम्॥

यद्यपि यहां पर बहुत कुछ कहना है तथापि ग्रन्थ बड़ा हो जाने के भय से अब हम यहीं रुकें। तो इस प्रकार पति, पशु और पाश के तीन पदार्थ दिखलाये गये। ज्ञानरत्नावली आदि ग्रन्थों में पदार्थों की गणना दूसरे ढंग से प्रसिद्ध है--'पति, विद्या, अविद्या, पशु, पाश और कारण, उस (कारण) की निवृत्ति के लिए ये छह पदार्थ संक्षिप्त रूप से कहे गये हैं।' ये सब बातें वहीं से जानी जायें, इस तरह सारी बातें ठीक हैं।

इस प्रकार श्रीमान् सायणमाधव के सर्वदर्शनसंग्रह में
शैव-दर्शन [समाप्त हुआ]।

इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य
प्रकाशाख्यायां व्याख्यायां शैवदर्शनमवसितम्॥